पत्रकारिता में शोषण

समयांतर, सितंबर,09' में प्रकाशित नवीन पाठक का पत्र

''...समाचारपत्र उद्योग में कर्मचारियों की किसी तरह की सुरक्षा नहीं रही है। न नौकरी की सुरक्षा और न ही कोई संस्थागत स्वास्थ्य या अन्य समाजिक सुरक्षा उपलब्ध है। यह असुरक्षा छोटे और स्थानीय अख़बारों में अपने चरम पर है जहां न तो किसी तरह की सेवा शर्तें लागू होती हैं और न ही वेतन के नियमों को माना जाता है। उदारीकरण के बाद जिस तरह से अख़बारों में अनुबंध पर काम करने का चलन बढ़ा है, उससे पत्रकारों, विशेषकर भाषायी यानी गैरअंग्रेज़ी अख़बारों के पत्रकारों की काम करने की स्थितियों को दिहाड़ी मज़दूरों से भी बदतर बना दिया है। .....अखबारों की आपसी प्रतिद्वंद्विता के बढ़ने से तार्किक तौर पर तो पत्रकारों के वेतनों में वृद्धि होनी चाहिये थी और अंग्रेज़ी में हुई भी है, पर गैर अंग्रेज़ी अख़बारों और विशेषकर हिंदी में इसने पत्रकारों का शोषण और बढ़ाया ही है। खर्च घटाने और प्रतिद्वंद्विता बढ़ाने के लिये पत्रकारों के काम के घंटे और काम का आकार ही नहीं बढ़ा है, बल्कि उनके वेतनों में भी कमी की गई है। इस संकट को वृहत्तर सामाजिक संदर्भों से बेहतर समझा जा सकता है।

सरकारी नौकरियों के सिकुड़ने के कारण परंपरागत शिक्षा पाये युवाओं में बेरोज़गारी के चरम पर पहुंचने से पत्रकारिता में नौकरी पाने का बेतरह दबाव बढ़ गया है। इस तरह श्रम बाज़ार में आपूर्ति अंधाधुंध बढ़ जाने और गैरअंग्रेज़ी पत्रकारिता के स्तर में विशेष तौर पर गिरावट ने दक्षता के महत्त्व को समाप्त कर दिया है। इसका परिाम यह हुआ है कि निचले स्तर पर किसी को भी भरा जाने लगा है। पत्रकारिता में वेतनों में जबरदस्त गिरावट हुई है। आज हालत यह है कि कई प्रादेशिक अख़बारों में उपसंपादक आदि निचले पदों पर काम करने वाले पत्रकारों को जो वेतन मिलता है, वह किसी महानगर में चौकीदारी करने वालों के वेतन से भी कम होता है। पत्रकारिता के स्तर पर इसके व्यापक असर को साफ़ देखा जा सकता है। इसका एक भयावह परिणाम यह हुआ है कि किसी भी पत्रकार के लिए किसी भी तरह का पेशेवराना नैतिक स्टैंड ले पाना अब संभव नहीं रहा। दूसरी ओर इसने पत्रकारों को मजबूर किया है कि वे ऐसे रास्ते तलाशें जिससे कि उनकी दो वक्त की रोटी का जुगाड़ होता रह सके। दूसरे शब्दों में, पत्रकारों को अनैतिक तरीकों के इस्तेमाल की दिशा में जानबूझ कर धकेला जा रहा है। यह मालिकों और शासकों को भाता है।

स्थानीय अख़बारों द्वारा संवाददाताओं को अपने काम के अलावा विज्ञापन लेने के लिए भी मजबूर किया जा रहा है। पिछले चुनावों में जिस तरह से उम्मीदवारों से उनके समाचार छापने के लिए पैसा लिया गया, उसमें मालिकों ने जम कर पत्रकारों का उपयोग किया। इन सब बातों ने पत्रकारिता के व्यवसाय को एक ऐसे असुरक्षित और निहायत ही सामान्य पेशे में बदल दिया है जिसका संबंध किसी भी तरह की नैतिकता और मूल्यों से नहीं होता है। जिसमें विवेक जैसे शब्द का कोई अर्थ ही नहीं रह गया है। किसी दुकान में काम करना और किसी अख़बार में काम करने में शायद ही आज कोई अंतर रह गया है। इस बीच यह सच है कि अख़बारों के लाभ में वृद्धि हुई है और एक के बाद एक अख़बार संस्करण पर संस्करण निकाल रहा है।

दूसरी ओर ये अख़बार अपने पत्रकारों को स्वास्थ्य संबंधी सेवा तो दूर, सेवा निवृति के बाद के लाभ तक देने से बचने लगे हैं। उदारीकरण के बाद से पत्रकारों व मज़दूर संगठनों का सरकार की मदद से, व्यवस्थित तरीके से खात्मा कर दिया गया है। आज एक भी संगठन ऐसा नहीं बचा है जो पत्रकारों और अख़बारी कर्मचारियों के पक्ष में जरा भी आवाज उठा पाये। पर देखने की बात यह है इसके बावजूद सरकार के कानों पर जूं नहीं रेंग रही है। समाचार पत्र उद्योग में हर दिन एकाधिकार बढ़ रहा है। बहुसंस्करणों की कोई सीमा नहीं है। अख़बारी संस्थान इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में घुस रहे हैं, यानी क्रॉस इन्वेस्टमेंट हो रहा है, पर कहीं कोई रोक की बात नहीं। यहां यह बतलाना जरूरी है कि अमेरिका तक में अखबारों को न तो बहुसंस्करण निकालने की छूट है और न ही क्रॉस इन्वेस्टमेंट की। मीडिया उद्योग के लिए नियामक है जो इस तरह के निवेश पर नज़र रखता है। पर हमारे यहां कोई नियामक संस्था नहीं। दूसरी ओर, मालिकों के सत्ताधारी दलों से निकट के संबंध होते हैं। यहां तक कि वे उनके टिकट पर चुनाव ही नहीं लड़ते, बल्कि राज्यसभा में पहुंचते हैं और खुलेआम अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर लगातार छूटें ले लेते हैं और ऐसा कोई नियम भी नहीं बनने दे रहें हैं जो उनके किसी भी तरह के उत्तरदायित्व को तय कर सके।''

मज़दूर मोर्चा : पत्रकारों के शोषण का प्रमुख कारण है अख़बारों का बहुसंस्करण प्रकाशित करना। यही नहीं, राष्ट्रीय अख़बार हर ज़िले की कवरेज करते हैं और वे अपने नेटवर्क का विस्तार ब्लॉक एवं पंचायत स्तर पर करते हैं। यही कारण है कि ट्रेन में आप कानपुर में कोई अख़बार खरीदें और फ़िर वही अख़बार वाराणसी में लें तो चंद मुख्य समाचारों और संपादकीय पेज के अलावा सब कुछ अलग मिलेगा। यह स्थिति हर जगह है। बहुत से अख़बार तो लोकल पुल आऊट निकालते हैं। पर ज़्यादातर अंदर के पेजों में ही हेर-फेर करते हैं। हर ज़िले के स्तर पर यह बदलाव होता है और इतना ज़्यादा होता है कि पाठकों को लगता है कि वे ठगे गये। यह बात अलग है कि पाठकों की रुचि लोकल ख़बरों में ज़्यादा होती है, पर यह पाठकों के बौद्धिक स्तर पर भी निर्भर करता है। 'भैंस की चोरी और किसी जेबकतरे का पकड़ा जाना, स्थानीय नेताओं आदि के बयान' इतने ज़्यादा महत्त्व नहीं रखते जिनसे अख़बार के कॉलम के कॉलम भरे जा सकें। पर अभी हो यही रहा है। और इस चक्कर में राष्ट्रीय स्तर, अंतरराष्ट्रीय स्तर, क्षेत्रीय व प्रांतीय स्तर की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को छोड़ दिया जाता है। अख़बार से हर किसी को कुछ खास ख़बर की आस होती है और जब वह पूरी नहीं होती तो पाठकों को लगता है कि वे ठगे गये। फ़िर उनका कमेंट होता है कि चलो, इन पर मूंगफली तो खाई जा सकती है। रद्दी जमा होती गई तो उसे बेच कर कुछ पैसे आ सकते हैं। पाठकों की इस मानसिकता से ही यह पता चलता है कि वे अख़बारों के प्रति कैसा नज़रिया रखते हैं।

अख़बार को पंचायत के स्तर तक लोकल बना देने से ही पत्रकारों के श्रम के शोषण की प्रवृत्ति बढ़ी है। अधिकांश कस्बाई पत्रकार -स्ट्रिंगर नियमित वेतन पर काम नहीं करते। उनके द्वारा भेजे गये समाचार और फ़ोटो पूरे महीने जो छपते हैं, उनका हिसाब बना कर रखा जाता है और उन्हें प्रति सेंटीमीटर-प्रति कॉलम के हिसाब से मानदेय दिया जाता है। यह भी एक स्थिति है। लेकिन अब तो हिंदुस्तान जैसे प्रतिष्ठित अख़बारों द्वारा इससे भी नीचे गिर कर उन लोग़ों से समाचार-संकलन करवाया जा रहा है जिन्हें एक रुपया भी नहीं दिया जाता, हां पत्रकार होने की काग़ज़ी सनद जरूर दे दी जाती है जिसके आधार पर वह छुट्टा चरने के लिए स्वतंत्र हैं।

इससे पत्रकारिता की छवि आम लोगों के बीच भी खराब हुई है। ये पत्रकार जब स्थानीय ऑफिसों में जाते हैं तो अधिकारी और कर्मचारी बुदबुदाने लगते हैं, 'लो आ गया चंदाखोर।' अगर ये अख़बार के लिए विज्ञापन आदि जुटायें तो इन्हें ज़्यादा लाभ हो सकता है, इसलिए ये स्थानीय बाज़ार में भी चक्कर काटते रहते हैं। उनकी इस हालत को देख कर लोग़ सोचने लगते हैं कि क्या पत्रकार ऐसे ही होते हैं। हमने तो उन्हें बड़ी ही ऊंची चीज समझा रखा था। ये तो फलाने का लौंडा जो पहले इधर-उधर डोला करता था, अब अपनी मोटरसाइकिल पर बड़े अक्षरों में 'प्रेस' लिखवा कर मुस्टंडई कर रहा है। लोकल पत्रकारों में चालाक किस्म के लोग़ पुलिस के मुख़बिर बन जाते हैं या दलाली का काम करने लगते हैं। अगर कोई पुलिस के चक्कर में फंस गया तो ये उसे छुड़वाने के लिए सौदेबाज़ी तक करते हैं। इस तरह अपना खर्चा वे बेहतर ढंग से निकाल लेते हैं, पर वहीं पत्रकारिता जैसे सम्मानजनक पेशे की लुटिया डुबो देते हैं।

ज़ाहिर है, पत्रकारिता जैसे सम्मानित पेशे जहां पहले विद्वानों की ही गुज़र हो सकती थी, को बर्बाद करने का काम मालिकानों और प्रबंधन ने ही किया है। ऐसा इसने अपना मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए किया है। पंचायत स्तरीय पत्रकारिता से अख़बारों का प्रसार तो पहले के मुकाबले बढ़ा ही है, पर उतना ज़्यादा नहीं जितना इन्होंने सोच रखा था। वैसे लोग़ जिन्हें अख़बार किसी हाल में नहीं खरीदना और इधर-उधर से देख कर पढ़ लेना है, उनके लिए कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि अख़बार का स्तर कैसा है। वे तो चाय की घूंट के साथ अख़बार पढ़ते हैं। पर बुद्धिजीवी पाठकों पर इसका काफ़ी असर पड़ता है। चूंकि अंग्रेज़ी अखबारों ने अभी पंचायत स्तरीय पत्रकारिता की शुरुआत नहीं की है, इसलिए उनका काम अंग्रेज़ी अख़बारों के माध्यम से चल जाता है। बाकी सब चलता है.....की नीति है।

पैसे के लिए विज्ञापन : अंग्रेजी अख़बारों में विज्ञापन का स्तर थोड़ा भिन्न रहता है, पर हिंदी अख़बारों में तो यह पूरी तरह सड़कछाप होता है। इनका वश चले तो ये कॉलगर्ल्स के फ़ोन नंबर तक छापना शुरू कर दें। अभी तो ये लिंगवर्द्धक आदि विज्ञापन छाप ही रहे हैं। साथ ही काला इल्म, वशीकरण, प्रेमी-प्रेमिका तुरंत मुट्ठी में आदि। इसके अलावा तरह-तरह के मसाज पार्लर्स के विज्ञापन छपते ही हैं जो परोक्ष तौर पर देह-व्यापार के ही विज्ञापन हैं। इस संबंध में मज़दूर मोर्चा ने बहुत ही कड़े अंदाज में लेख लिखे हैं। पुलिस का यह कर्त्तव्य है कि इन फर्जी विज्ञापनों का स्वत: संज्ञान लेते हुए कड़ी एवं लगातार कार्रवाइ करती रहे। कभी-कभार इक्का-दुक्का मामलों में कार्रवाई करने से कुछ होने वाला नहीं है। पिछले दिनों फ़रीदाबाद पुलिस ने इस तरह के एक मामले में कार्रवाई की भी थी जिसका कोई असर पड़ता दिखाई नहीं दिया।

भाजपा का अध्यक्ष संघ चुनेगा?

.....तो इसमें नया क्या है?

भारतीय जनता पार्टी की स्थिति इतनी बुरी हो जायेगी, किसी ने सोचा भी नहीं होगा। आज राष्ट्रीय स्तर पर दूसरा स्थान रखने वाली इस पार्टी के सामने नेतृत्व का ऐसा भीषण संकट उपस्थित हो गया है कि लगता है सब आपस में ही लड़-कट कर मर जायेंगे। इसी बीच ये सियारनुमा 'हुआं-हुआं' का शोर मचा कर किसी की समझ में कुछ न आये, ऐसा माहौल बना देते हैं।

दिल्ली की गर्मी में चूंकि चिंतन जैसा कार्य हो नहीं सकता था, इसलिए इन्होंने शिमला में चिंतन बैठक की और पहले से ही यह स्पष्ट कर दिया कि इस बैठक में पार्टी नेतृत्व पर चर्चा नहीं होगी। लेकिन घाव जब तक सूखे नहीं, लाख जतन करो, रिसता ही रहता है। यही हाल हुआ शिमला की चिंतन बैठक में।

इस बीच राजगीर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भी सम्मेलन कर लिया। मोहन भागवत संघ के सर कार्यवाह यानी प्रमुख बनाये गये और प्रमुख बनते ही इन्होंने राजनीति को वेश्या का दर्जा दे दिया। यही काम के.एस.सुदर्शन ने भी किया था। अब नये संघ प्रमुख मोहन भागवत का कहना है कि संघ का काम सिर्फ़ भाजपा को निर्देशित करना नहीं है, उसके अन्य दर्जनों संगठन हैं जिन्हें सही मार्ग पर चलाने का काम संघ का ही है। जो भी हो, इस बार मोहन भागवत ने सच को छुपाने की कोशिश नहीं की। उन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया कि भाजपा संघ परिवार की प्रमुख सदस्य है। बहुत होगा तो नाम बदल देंगे। झंडा और चुनाव चिह्न बदल देंगे, पर मूल अंतरात्मा तो वही रहेगी। इस बात को वे सभी बड़े नेता समझते हैं जो संघ की परंपरा में दीक्षित हुए हैं। धीरे-धीरे संघ की परंपरा में दीक्षित नेताओं की कमी होती जा रही है और संकट का मूल कारण यह भी है कि संघ परंपरा में दीक्षित नेतागण जिन्होंने ब्रह्मचर्य की दीक्षा ले रखी होती है, राजनीति की पांच-सितारा शैली वाली दुनिया में आते हैं, तो उनकी लंगोट ढीली हो जाती है। उदाहरण के लिए संजय जोशी प्रकरण। यह तो मीडिया में आया एक प्रकरण है, अनेकानेक मामले मीडिया में नहीं आते, आ भी नहीं सकते। वैसे यौन जैसे नैसर्गिक सुख की प्राप्ति पर संघ में अब कड़ा प्रतिबंध

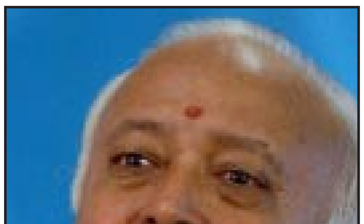

नहीं है, यह सिर्फ़ प्रचारकों पर ही लागू होता है। बहरहाल, प्रचारक भी राजनीति की पांच-सितारा दुनिया में आ कर मोह-माया के चंगुलों में फंस जाते हैं।

राजनीति में अब पांच-सितारा ही नहीं चल रहा, सात-सितारा की धूम जोरों पर है। सात-सितारा की सतरंगी रोशनी में ज़्यादातर नेताओं की आंखें चौंधिया जाती हैं। बूढ़े लोग़ उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। यह सत्य ध्यान में आने पर ही युवा नेतृत्व की 'चीख-पुकार' शुरू हुई। कहा जा रहा है कि अब तो कोई नया अध्यक्ष ही आयेगा। नये का मतलब जो पहले कभी अध्यक्ष न रहा हो, युवा हो और संघ के प्रति आस्थावान हो। इस तरह अब मुकाबला अरुण जेटली और सुषमा स्वराज में है। अरुण जेटली अपने रंग और ढंग में पूरे 'साहबी' हैं। इस तरह पलड़ा सुषमा का ज़ोरदार भारी पड़ता है। पर इनके ख़िलाफ़ पार्टी का एक गुट बेहद सक्रिय है। अरुण जेटली को जहां भी चुनाव अभियान का नेतृत्व दिया गया, उसमें वे खासे सफ़ल नहीं हो पाये, इसलिए इनकी पार्टी के अंदर जबरदस्त आलोचना हो रही है। आलोचना इसलिए भी हो रही है कि वे संघ परिवार में पूर्णत: दीक्षित नहीं हैं। भाजपा के बड़े शूर-वीर तो निकल ही गये हैं। संन्यासिनें - साध्वियां भी निकल चुकी हैं। वो भी कम आकर्षण पैदा नहीं करती थीं। आडवाणी जी से भूल हुई। अगर यह भूल नहीं होती तो आज आडवाणी जी और संघ के सामने यह दिक्कत पेश न आती। मोहन भागवत जम कर हिंदुत्व का नारा लगा रहे हैं और बाबरी मस्जिद के ध्वंस को भारी भूल बताने वालों की अच्छी खबर लेने की बात कही है।

अगले माह में भाजपा का अध्यक्ष चुना जाना है। तरह-तरह के कयास लगाये जा रहे हैं। ज़्यादा लोग़ों का कहना है कि इस बार सुषमा जी अध्यक्ष बनेंगी। ग्लैमरस हैं और भाषण अच्छा-खासा दे लेती हैं। कुछ विश्लेषकों का कहना है कि अब दिसंबर में आडवाणी की राजनीति समाप्त हो जानी है। उनके पास कोई मुद्दा नहीं रह गया है। संभव है, वे संन्यास ले लें। देखना है, क्या होता है? अब तो अध्यक्ष चुनने का पूरा भार मोहन भागवत के कंधों पर ही है। लेकिन इसे क्या कहें खुले हुए भेद को भागवत जी ने फ़िर से खोला, इसके बावजूद संघ प्रवक्ता राम माधव कहते हैं कि अध्यक्ष का चुनाव भाजपा का भीतरी मामला है।

■ मनोज